21

मानव विकास की विभिन्न अवस्थाएँ

* *हन्नाह आनंदराज*

प्रस्तावना

मानव विकास विशेषताओं के आधार पर विभिन्न अवस्थाओं से होकर गुजरता है। ये अवस्थाएँ क्रमानुसार अपने पहले एवं आगे की अवस्थाओं से जडी हुई रहती है। प्रत्येक अवस्था में कुछ ऐसी अद्वितीय विशेषताएँ उत्पन्न हो जाती हैं जिसके कारण एक अवस्था दूसरे अवस्था से भिन्न दिखायी पड़ने लगती है। ये भिन्नताएँ व्यक्तियों–व्यक्तियों में भी दिखायी पड़ती है जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में अलग दिखाई देता है। हममें से कुछ व्यक्तियों में विकास निर्विघ्न होता है जबकि अन्य व्यक्ति इसमें अनेक उतार–चढ़ाव का अनुभव करते हैं। यह कारक एवं तरीके जो प्रत्येक व्यक्ति में मौजूद होते हैं, मानव व्यक्तित्व की आधारशिला तैयार करते हैं। जीवन यात्रा के विश्लेषण के उपयोग में आने वाले कुछ महत्वपूर्ण अवधारणाओं से हमारा परिचित होना आवश्यक है जो निम्नलिखित है–

1) वृद्धि

वृद्धि से तात्पर्य कोशों के संख्या एवं आकार में बढ़ोत्तरी से है तथा यह मात्रात्मक उन्नति होती है। यह इस पर आधारित नहीं होता है कि प्राणी ने क्या सीखा है, बल्कि यह परिपक्वता पर आधारित होता है।

2) परिपक्वता

परिपक्वता से तात्पर्य उन परिवर्तनों से है जो प्राथमिक रूप से व्यक्ति के वंशानुक्रम से सम्बन्धित शारीरिक क्षमताओं को प्रकट करते हैं। परिपक्वता एक कली के खिलने एवं उसके एक फूल के मंजरी के रूप में स्थापित होने की पूर्ण क्षमता को प्रदर्शित करता है। यह किसी विशेष प्रकार के प्रशिक्षण अथवा पर्यावरण पर निर्भर नहीं करता हैं।

3) विकास

विकास को क्रमिक, संबद्धतापूर्ण परिवर्तनों की प्रगतिशील श्रृंखला, जो परिपक्वता के लक्ष्य की ओर निर्देशित होती है, के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। (हरलॉक, 1964) अर्थात विकास से तात्पर्य है गुणात्मक परिवर्तन जिसकी दिशा परिपक्वता की ओर होती है। विकास को परिपक्वता एवं अधिगम के गुणज या कार्य के रूप में भी समझा जा सकता है।

---

* *प्रो. हन्नाह आनंदराज, आर.एम. कार्यालय ऑफ सोशल वर्क, हैदराबाद*

विकास एक अवलोकनात्मक नमूने का अनुसरण करता है जिसका पूर्वकथन किया जा सकता है। शोधकर्ताओं ने विकास के दो सिद्धान्तों की पहचान की है, वे हैं:

सेफालो कूडल सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार विकास शरीर में सिर से प्रारम्भ होकर पैर तक पहुँचता है। संरचना एवं कार्य में होने वाले परिवर्तनों को पहले सिर में, फिर धड़ में तथा सबसे अन्त में पैरों में देखा जा सकता है।

प्राक्सिमोडिस्टल सिद्धान्तः

इस सिद्धान्त के अनुसार विकास नजदीक से दूर की ओर होता है। शरीर में इस प्रकार का विकास शरीर के मध्य बिन्दु से प्रारम्भ होकर किनारों पर पहुँचता है।

विकास के स्तर

अत्यधिक व्यापक रूप में विकास के स्तरों को दो प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है–

अ) गर्भकालीन विकास एवं

ब) जन्म के बाद विकास

गर्भ कालीन विकास में वे सभी परिवर्तन सम्मिलित होते हैं जो माँ के गर्भ में होते हैं। इसलिए इसे 'गर्भाशय के भीतर विकास' भी कहा जाता है जहाँ गर्भाशय पर्यावरण होता है। दूसरी ओर जन्म के पश्चात् का विकास जन्म से लेकर जीवन के अन्त तक के सभी स्तरों का विकास है।

प्रसवपूर्व विकास

व्यक्ति का विकास उसके जन्म से बहुत पहले ही प्रारम्भ हो जाता है तथा जन्म से पूर्व की विकासात्मक अवस्था को प्रसवपूर्ण अवस्था कहा जाता है। पिता का शुक्राणु माता के डिम्ब से मिलता है। शुक्राणु वक्र नलिका द्वारा गर्भाशय की डिम्बवाहिनी में प्रवेश करते हैं जहाँ उनका संसर्ग डिम्ब से होता है। इस प्रक्रिया को निषेचन या गर्भाधान की प्रक्रिया कहा जाता है। इसके परिणामस्वरूप एक कोश का निर्माण होता है जिसे युग्मजन कहते हैं। और यहीं से जीवन का प्रारम्भ होता है। एक कोशिका जिसे साधारण आँखों से देखा भी नहीं जा सकता वही आगे चलकर एक पूर्ण व्यक्ति बन जाता है। क्या आपको नहीं लगता कि यह आश्चर्यजनक; उलझन भरा तथा प्रकृति का एक खुबसूरत चमत्कार है?

प्रसवपूर्व विकास की अवस्था गर्भाधान के समय से लेकर जन्म तक होती है। इस अवस्था को तीन अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है :

1) युग्मनज अवस्था : निषेचन से दो सप्ताह तक

2) भ्रूणावस्था : 2 सप्ताह से 2 महीने तक

3) गर्भस्थ शिशु की अवस्था : तीसरे सप्ताह से प्रारम्भ होकर जन्म तक।

युग्मनज अवधि

डिम्ब गर्भित होने के बाद भी कुछ समय तक डिम्ब नली में रहता है फिर वह गर्भाशय में पहुँच जाता है। चार पाँच दिनों तक डिम्ब गर्भाशय की दीवारों के सहारे उन्मुक्त होकर तैरता रहता है। निषेचन के लगभग 10वें दिन युग्मनज गर्भाशय की दीवार को तोड़कर गर्भाशय में पहँच जाता है और उससे स्वयं को सम्बद्ध कर लेता है इस प्रक्रिया को गर्भधारण कहते हैं। गर्भाशय की दीवार इसको ढक लेती है। तीव्र कोशिका विभाजन प्रारम्भ हो जाता है तथा एककोशीय युग्मनज बारम्बार विभाजन के बाद एक गेंद के आकार में परिवर्तित हो जाता है जिसमें कोशिकाओं की दो परतें होती हैं।

ii) भ्रूण की अवधि

इस अवस्था का प्रसार 2 सप्ताह के बाद में प्रारम्भ होकर 2 महीने तक होता है। इस अवधि में भ्रूण एक सूक्ष्म मानव की तरह होता है। कोशिका विभाजन प्रारम्भ हो जाता है जिसमें एक कोशिका से विभिन्न प्रकार की कोशिकाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। वाह्य अंग जैसे सिर, मुख, हाथ, अंगुलियाँ, पैर आदि स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं तथा आंतरिक अंग जैसे– हृदय, फेफड़े एवं मस्तिष्क निर्मित हो जाते हैं। भ्रूण गर्भाशय के अन्दर चक्कर काटता रहता है तथा हृदय स्पन्दन को भी सुना जा सकता है। गर्भाधान के पश्चात् के पहले बारह सप्ताह बहुत महत्वपूर्ण होते हैं क्योंकि इसी अवधि में महत्वपूर्ण अंगों का निर्माण होता है।

iii) भ्रूण की अवधि का तीसरा स्तर

इस अवस्था का प्रसार तीसरे माह के प्रारम्भ से लेकर जन्म तक होता है। वृद्धि के साथ शरीर के अनुपात में भी बढ़ोत्तरी होती जाती है। इस अवस्था में भ्रूण के स्पन्दन का आभास होने लगता है। सभी आन्तरिक अंगों का निर्माण पूरा हो जाता है तथा 5वें महीने तक वे अपने वास्तविक अनुपात ग्रहण कर लेते हैं। 2–4 महीने के बीच तंत्रिकातंत्र का विकास होता है। 9 महीने या 270 दिन पूरा हो जाने पर भ्रूण जन्म के लिए तैयार हो जाता है।

प्रसवपूर्ण की अवधि में प्रभावित करने वाले कारक

प्रसवपूर्व की अवधि में विकास को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारक हैं। इन कारकों को एक साथ टिराटोजीन्स कहते हैं।

1) माता का पोषाहार

वृद्धि के दौरान भ्रूण को पौष्टिक आहार की आवश्यकता होती है, जो उसे माता के शरीर से प्राप्त होता है। अतः माता को मिलने वाला आहार सन्तुलित होना चाहिए। इस अवस्था में माता को केवल अकेले कार्बोहाइड्रेट की ही नहीं बल्कि विटामिन एवं खनिज (जैसे– कैल्सियम, फास्फेट, आयरन) जल, प्रोटीन, वसा आदि की भी आवश्यकता होती है। अतः इसकी देखरेख होनी चाहिए। इस अवस्था में माता एवं गर्भस्थ शिशु हेतु दूध, अण्डे, मीट या मछली के साथ–साथ हरी सब्जियाँ, हरे साग, मौसमी फल, दालें आदि भी उचित पोषाहार हेतु आवश्यक हैं।

2) माता की आयु

21 से 29 वर्ष के बीच की आयु माता द्वारा बच्चे को जन्म देने की आदर्श आयु होती है। इस अवधि से कम आयु की माँ बच्चे को जन्म देने के लिए शारीरिक एवं मानसिक दोनों रूप से अपरिपक्व होती है तथा शिशु को मृत्यु का भी खतरा अधिक रहता है। 30 वर्ष से अधिक आयु की माता के होने पर बच्चे में मानसिक मंदता तथा अन्य आनुवंशिक असामान्यता की संभावना बहुत अधिक होती है।

3) माता के द्वारा विश्राम तथा व्यायाम

गर्भावस्था में इन दोनों की अनिवार्यता होती हैं। यदि माँ अधिक थकी हुई होगी तथा क्षमता से अधिक कार्य करती है तो बच्चे में रोष या चिड़चिड़ापन हो जाता है तथा बच्चे के निष्क्रिय अवस्था में जन्म लेने की संभावना रहती है। इसी प्रकार इस अवस्था में माता को पर्याप्त व्यायाम भी करना चाहिए।

4) रक्त समूह

इसमें से अधिकांश व्यक्तियों का रक्त समूह धनात्मक होता है जबकि कुछ व्यक्तियों का रक्त समूह गुणात्मक भी होता है। यदि माता का रक्त समूह '–' हो तथा भ्रूण का रक्त समूह '+' हो तो एक विषय परिस्थिति होती है। माता को इस सम्बन्ध में जागरूक होना चाहिए तथा यदि बच्चे के जन्म के समय सावधानियाँ नहीं बरती गई तो अनेक विषमताएँ जैसे पीलिया हो सकता है तथा इसका परिणाम शिशु की मृत्यु भी हो सकती है।

5) व्यसन

यदि माता गर्भावस्था में शराब, सिगरेट या मादक द्रव्यों का सेवन करती है तो उसका अपशिष्ट पदार्थ भ्रूण तक भी चला जाता है। इससे बच्चे में चिड़चिड़ापन, जन्म के समय कम वजन होना या समय से पूर्व ही बच्चों का जन्म जैसे खतरे की संभावना रहती है। इसके अतिरिक्त बच्चे के निष्क्रिय अवस्था में जन्म की भी सम्भावना हो जाती है।

6) माता की बीमारी

गर्भावस्था में माँ की बीमारी भ्रूण को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करते हैं। विशेष रूप से गर्भावस्था के प्रारम्भिक संक्रमणकालीन अवस्था में। जर्मन खसरा के कारण शिशु में बधिरता, मानसिक मन्दता या हृदय रोग भी हो सकता है। एड्स, आत्शक या अन्य यौन संक्रमित रोगों के कारण गर्भपात भी हो सकता है।

7) माता पर दबाव

गर्भावस्था में यदि माँ को दुश्चिन्ता, तनाव एवं सांवेगिक समस्या रहती है तो भ्रूण को पर्याप्त मात्रा में रक्त की आपूर्ति नहीं हो पाती है तथा यह विचलित हो जाता है। इससे भ्रूण के विकास में बाधा पड़ती है। इसका परिणाम अपरिपक्व शिशु का जन्म, बच्चे का चिड़चिड़ा होना तथा बच्चे का निष्क्रिय अवस्था में जन्म लेना भी हो सकता है।

प्रसवपूर्व विकास बच्चे के जन्म की प्रक्रिया प्रारम्भ होने के साथ ही समाप्त हो जाती है। बच्चे का जन्म सामान्य एवं स्वाभाविक या सहायता के द्वारा हो सकता है। भ्रूण के समक्ष कठिनाइयों या विषमताएँ आ सकती हैं, विशेष रूप से आक्सीजन या रक्त की कमी। विषमताओं की स्थिति में सहायता की आवश्यकता होती है, जिसमें यंत्र की सहायता से या आपरेशन द्वारा बच्चे का जन्म होता है। इन दशाओं में नवजात शिशु के स्वास्थ्य की देखभाल को सुनिश्चित करना चाहिए।

शैशवावस्था

स्थिर प्रसवपूर्व विकास का अन्त जन्म के समय होता है तथा यह एक आघात होता है। अब भ्रूण को एक कठोर भिन्न पर्यावरण प्राप्त होता है तथा भविष्य में विकास इस बात पर निर्भर करता है कि वह किस प्रकार समायोजन स्थापित करता है। साधारण नवजात शिशु जन्म के समय रोता है जो इस बात का सूचक होता है कि नवजात शिशु अब स्वयं सांस ले सकता है। शिशु का फेफड़ा जो निष्क्रिय था वह भर जाता है तथा वह बच्चे को रूलाता है। यदि जन्म के समय बच्चे के रोने में किसी प्रकार देर हुई तो इसका तात्पर्य है कि शिशु साँस नहीं ले पा रहा है। इस विलम्ब के कारण यदि मस्तिष्क को आक्सीजन आपूर्ति

प्रभावित हुई हो तो शिशु मानसिक मन्दित हो सकता है या उसकी मृत्यु भी हो सकती है। नवजात शिशु के वजन को भी लिख लेना चाहिए। जन्म के समय औसत वजन लगभग 2.5 किग्रा0 होना चाहिए। जन्म के समय इससे कम वजन सामान्य से कम कहा जाता है। इसी प्रकार नवजात शिशु को जीवन का सामना करने तथा सामान्य होने में बहुत संघर्ष करना पड़ता है।

इस अवस्था में गर्भाशय के बाहर के नये वातावरण से समायोजन स्थापित करना ही नवजात शिशु के जीवन का प्रमुख लक्ष्य या केन्द्र होता है। वातावरण के तापमान के साथ समायोजन, स्वतंत्र रूप से साँस लेना, स्तनपान करना तथा दूध की घूंट लेना, शरीर के अपव्यय का त्याग आदि ऐसे क्षेत्र है जिनमें नवजात शिशु को प्रवीण होने की आवश्यकता होती है। नवजात शिशु के सोने–नहाने का भी एक चक्र होता है। इसमें जागने एवं क्रिया की अवधि लगभग 50–60 मिनट होती है। इसके पश्चात् नवजात 2 से 4 घंटे तक की नींद लेता है।

शैशवावस्था की विशेषताएँ

शैशवावस्था सभी विकासात्मक अवस्थाओं में सबसे छोटी अवस्था है। चूँकि इस अवस्था में पर्यावरणीय परिवर्तन अत्यधिक कठोर होते हैं, अतः उसमें शिशु को आमूल समायोजन करने की आवश्यकता होती है। शैशवावस्था में शिशु के वजन में हल्की सी गिरावट आती है जिसे विकास का पठार या स्थिरता के रूप में लिया जा सकता है। शैशवावस्था में शिशु विभिन्न संकटों या खतरों का सामना करता है। ये संकट शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक दोनों प्रकार के होते हैं। शिशु के लिए नवीन पर्यावरणीय परिस्थितियों जैसे–सांस लेनें, पाचक क्रिया तथा रक्तसंचार सम्बन्धी कार्यों के साथ स्वयं को समायोजित करना एक कठिन कार्य होता है।

बाल्यावस्था

बचपनावस्था शैशवावस्था के बाद की अवस्था होती है जो जन्म के बाद 2 सप्ताह की समाप्ति से लेकर 2 वर्ष तक होती है। बाल्यावस्था की निम्नलिखित विशेषताएं हैं–

1) बाल्यावस्था के दौरान विकास सम्पूर्ण जीवन काल के विकास हेतु आधार होता है।
2) बाल्यावस्था में तीव्र शारीरिक एवं बौद्धिक विकास होता है। जिसका प्रमाण लम्बाई, वजन तथा शारीरिक अनुपात में होने वाली वृद्धि है।
3) बाल्यावस्था में आत्मनिर्भरता एवं स्वकेन्द्रितता भी परिलक्षित होती है।

4) बाल्यावस्था में शिशु में समाजीकरण प्रारम्भ हो जाता है क्योंकि शिशु में परिवार के समूचे अंग बनने की इच्छा दिखायी देती है तथा वह माँ की स्थानापन्न तथा अन्य लोगों के साथ भी अपने सम्बन्धों का विस्तार करता है।

5) बाल्यावस्था में शिशु में यौन भूमिकाओं में विभेद भी प्रारम्भ हो जाता है। बालक एवं बालिकाओं को उनके लिंग के आधार पर वस्त्र पहनाए जाते हैं तथा उनमें साथ उसी अनुरूप व्यवहार भी किया जाता है। शिशु के यौन के अनुरूप सांस्कृतिक रूप से प्रासंगिक वस्त्र, खेलों, व्यवहार व यहाँ तक कि अन्तक्रिया भी धीरे–धीरे शिशुओं के व्यवहार में आने लगती है।

6) इस अवस्था में शिशु के समक्ष शारीरिक या मनोवैज्ञानिक, किसी भी प्रकार का संकट हो सकता है। बीमारी, दुर्घटना आदि ऐसे शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक आघात हैं जो शिशु के सकारात्मक विकास में हस्तक्षेप कर सकते हैं।

बाल्यावस्था में यह अपेक्षा की जाती है कि शिशु दो वर्ष की अवस्था तक चलना सीख लेगा, वह कुछ ठोस आहार लेने लगेगा, मल त्याग पर आंशिक नियंत्रण कर लेगा, भाषा को ग्रहण करने और व्यक्त करने की आधारभूत बातें सीख लेगा तथा माता–पिता एवं अन्य व्यक्तियों के साथ संवेगिकता स्थापित कर लेगा।

शारीरिक–विकास

बाल्यावस्था में शारीरिक विकास की गति बहुत तीव्र होती है। शिशु के लम्बाई और वजन में वृद्धि होती है। चार माह में शिशु का भार जन्म के समय से दो गुना तथा एक वर्ष के अन्त तक तीन गुना हो जाता है। औसत रूप से चार माह के शिशु की लम्बाई 23 से 24 इंच तथा एक वर्ष के शिशु की लम्बाई 28–30 इंच, दो वर्ष तक शिशु की लम्बाई 32–34 इंच तक हो जाती है। लगभग दो माह की आयु में शिशु अन्य लोगों के चेहरों को पहचानकर प्रतिक्रिया स्वरूप मुस्कुराता है, यह सामाजिक मुस्कराहट शिशु विकास में पहला मील का पत्थर होता है। दो महीने में ही शिशु करवट से पीठ के बल लुढ़कने योग्य हो जाता है। चार महीने में पीठ के बल सोया हुआ शिशु करवट लेने लगता और छः महीने की आयु में वह पूर्ण रूप से लुढ़कने लगता है। लगभग आठवें महीने में शिशु पीठ सीधी करके बिना किसी सहारे के बैठने लगता है। लगभग पांचवें महीने में शिशु किसी वस्तु को पकड़ने के लिए हाथ फैलाते हैं किन्तु इस आयु में बच्चे भुजा को सीधी नहीं रख पाते हैं। 9वें महीने तक शिशु अपनी अंगुलियों का उपयोग चिमटे की तरह किसी वस्तु को पकड़ने में कर सकता है।

शिशु बैठे–बैठे झटके के साथ चलने की क्रिया लगभग 6 महीने में तथा घिसटने और रेंगने की क्रिया लगभग 8वें महीने में करने लगता है। चारों हाथ–पैर के बल चलने की क्रिया

तथा किसी वस्तु के सहारे खड़े होने की क्रिया 10वें महीने तक होने लगती है। वह 11वें महीने के अन्त तक देर तक किसी वस्तु के सहारे तथा 12वें महीने तक देर तक बिना सहारे के खड़े होने की क्रिया भी सीख जाता है। इसके साथ ही शिशु प्रारम्भ में किसी सहारे तथा बाद में बिना सहारे के लगभग 14वें महीने तक चलने लगता है। यह मील का पत्थर, गति को प्रदर्शित करता है तथा उसे क्रियात्मक विकास भी कहते हैं। बचपनावस्था के प्रारम्भ में शिशु के क्रियात्मक कौशलों में समन्वय नहीं होता है किन्तु बाद में जब इनमें समन्वय हो जाता तो ये शिशु तथा उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाते हैं।

भाषा विकास

जैसे–जैसे शिशु का विकास होता है, संसार के अन्य लोगों के साथ भाषा के रूप में एक महत्वपूर्ण सेतु का निर्माण होता है, जो संचार में सहायता देता है। इसके दो पक्ष होते हैं– पहला ग्रहणशील वाणी जो दूसरों द्वारा संचारित बातों को समझने हेतु होती है एवं दूसरा अभिव्यक्त वाणी जो व्यक्ति को स्वयं समझने में सहायक होती है। सबसे पहले शिशु बलबलाना या विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ निकालना प्रारम्भ करता है। इसके पश्चात् वह एकाक्षरी शब्दों (मा, मा, दा, दा, ना, ना आदि) के स्तर में प्रवेश करता है जो दो अक्षरीय शब्दों की अवस्था में जाने हेतु मार्ग प्रशस्त करते हैं। दो वर्ष की आयु पूरी होने तक शिशु ऐसे वाक्यों का प्रयोग करने लगता है जो दो अक्षरीय शब्दों से मिलकर बने होते हैं तथा उसमें कोई व्याकरण नहीं होता है।

सांवेगिक विकास

बाल्यावस्था के संवेग जैसे– हर्ष, स्नेह, जिज्ञासा, भय एवं क्रोध अक्सर विस्फोट रूप से अभिव्यक्त होते हैं तथा यह किसी उत्प्रेरक के अनुपातक में नहीं होते हैं। ये बहुत थोड़े समय के लिए होते हैं। ये संवेग बाद के वर्षों में स्थापित होते हैं।

सामाजिक मुस्कुराहट के प्रारम्भ से ही शिशु सामाजिक पर्यावरण के प्रति प्रत्युत्तर करना सीख जाता है तथा यह भविष्य के वर्षों के अतिमूल्यवान सामाजिक कौशलों हेतु आधार होते हैं।

क्रीड़ा विकास

क्रीडा गतिविधियों का वर्गीकरण बालक के द्वारा खेले जाने वाले खेल की विषयवस्तु के आधार पर किया जा सकता है। विषयवस्तु के आधार पर खेल गतिविधियों से तात्पर्य है सुख प्राप्ति हेतु क्रीड़ा, कौशल क्रीडा, नाटक सम्बन्धी क्रीड़ा, धार्मिक कृत्य सम्बन्धी एवं प्रतिस्पर्धात्मक क्रीडा। क्रीड़ा का दूसरा वर्गीकरण खेल के सामाजिक विशेषताओं के

आधार पर किया जा सकता है जो इस पर निर्भर है कि बालक किसके साथ खेल रहा है तथा उनके सम्बन्ध का स्वरूप क्या है? इसके अन्तर्गत वयस्कों के साथ क्रीडा, एकान्त क्रीडा, समानान्तर क्रीडा, सहायक क्रीडा तथा सहकारी क्रीडा विभिन्न प्रकार की होती हैं।

व्यक्तित्व विकास

व्यक्ति का व्यक्तित्व अब आकार लेना प्रारम्भ कर देता है। व्यक्तित्व का कोर अर्थात् आत्म सम्प्रत्यय निर्मित हो जाता है। व्यक्तित्व के अन्य लक्षण मजबूत होंगे या कमजोर, पर्यावरण के साथ उसके अर्न्तक्रिया पर निर्भर होता है जिसे मात्रात्मक परिवर्तन कहते हैं। इनकी जड़ बाल्यावस्था में देखी जा सकती हैं।

बाल्यावस्था के संकट

बाल्यावस्था में बहुत से संकट होते हैं जिनपर शिशु को विजय प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। शारीरिक संकट में शिशु की मृत्यु भी हो सकती है। जिनका कारण विभिन्न प्रकार की बीमारियों, दुर्घटनाएँ या कुपोषण हो सकता है।

मनोवैज्ञानिक संकट में क्रियात्मक या भाषा सम्बन्धी विकास में विलम्ब एवं उससे होने वाली हानियाँ सम्मिलित हैं। विकास में विलम्ब से सामाजिक सम्बन्ध में बाधा आती है तथा इसी तारतम्य में यह सांवेगिक विकास को भी प्रभावित करता है।

सामाजिक संकटों में सामाजिकता के आधिक्य के अवसरों एवं अनुभवों में कमी होना होता है। व्यक्तित्व विकास में संकट उत्पन्न होता है क्योंकि बच्चा आत्म सम्प्रत्यय का निर्माण इस आधार पर करता है कि उसके जीवन में महत्वपूर्ण व्यक्ति उसके विषय में क्या सोचते हैं। माता–पिता एवं अन्य व्यक्तियों का प्रतिकूल मनोवृत्ति जो क्रोध, नकारात्मकता या प्रतिगमनात्मक व्यवहार के रूप में प्रतिबिम्बित होती है विकासशील व्यक्तित्व के क्षति का कारण हो सकता है।

प्रारम्भिक बाल्यावस्था

बाल्यावस्था जिसकी अवधि 2 से 12 वर्ष तक होती है उसे सामान्यतया प्रारम्भिक एवं उत्तर अवस्था में विभाजित किया जाता है। प्रारम्भिक बाल्यावस्था की अवधि 2 वर्ष की आयु पूरा होने से लेकर 6 वर्ष तक होती है। इस भाग में बालक द्वारा सीखे गए कौशलों, भाषा विकास, क्रीड़ा विकास एवं व्यक्तित्व विकास को संक्षिप्त रूपरेखा दी गई है। इसके अलावा प्रारम्भिक बाल्यावस्था में विकास के विभिन्न क्षेत्रों के संकटों पर भी चर्चा की गई है।

बाल्यावस्था में माता–पिता की स्वीकृति से उत्पन्न प्रसन्नता तथा स्वीकृति से उत्पन्न प्रसन्नता तथा स्वीकृति के तरीकों को भी प्रस्तुत किया गया है।

प्रारम्भिक बाल्यावस्था को पूर्ण विद्यालयी अवस्था भी कहा जाता है। छोटा बालक पर्यावरण के विषय में सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए आतुर रहता है। वह पर्यावरण के विषय में अन्वेषण करने का प्रयास करता है इसीलिए इस अवस्था को अन्वेषणात्मक अवस्था कहते हैं। प्रत्येक स्थितियाँ और वस्तु बालक के लिए ऐसे कौतुहल उत्पन्न करते हैं कि वह उनके विषय में क्या, क्यों एवं कैसे आदि प्रश्न करते रहते हैं, इसी कारण इस अवस्था को 'प्रश्नवाचक अवस्था' का भी नाम दिया जाता है। बालक सामान्यतया अपने आस–पास के प्रौढ़ व्यक्तियों का अनुकरण या नकल करने की कोशिश करते हैं इसलिए इस अवस्था को 'अनुकरण की अवस्था' भी कहते हैं। उनके खेल की गतिविधियों में बहुत अधिक सृजनात्मकता एवं अनुकरण देखने को मिलता है इसलिए इस अवस्था को एक अन्य नाम 'सृजनात्मक आयु' भी दिया गया है।

शारीरिक विकास

बाल्यावस्था में तीव्र शारीरिक विकास की तुलना में इस अवस्था में धीमी गति से शारीरिक विकास होता है। शारीरिक अनुपात में संतुलन बढ़ जाता है तथा सिर के भारी आकार में भी कमी आती है। इस अवस्था में प्रतिवर्ष बालक में लगभग 2 किग्रा. भार में वृद्धि होती है तथा ऊँचाई में औसतन प्रति वर्ष 3 इंच की वृद्धि होती है। दूध के दाँत टूट जाते हैं तथा बाल्यावस्था के गोल मटोल स्वरूप के स्थान पर बालक दुबला पतला दिखने लगता है। इन परिवर्तनों के कारण बालक आकर्षक नहीं लगता है।

प्रारम्भिक बाल्यावस्था के कौशल

छोटा बालक बहुत से कौशलों को सीखता है तथा उसमें प्रवीण होता है क्योंकि उसमें व्याप्त विशाल कौतूहल उसे सिखाते एवं चतुर बनाते हैं। इन बालकों में उत्तर बाल्यावस्था के बालकों की भाँति उपहास किए जाने का डर या अवरोध नहीं होता है। इसके अतिरिक्त उनके शरीर में लचीलापन होता है तथा उँगलियाँ निपुण होती हैं और ये सीखने योग्य होती हैं जो कुशलताओं के अधिगम में एक महत्वपूर्ण गुण होता है। बच्चे अपने पर्यावरणीय अवसरों और पारिवारिक पृष्ठभूमि के अनुरूप विभिन्न प्रकार के कौशल सीखते हैं।

बाल्यावस्था में बालक हाथ से भोजन करने तथा कपड़े पहनने में दक्ष हो जाते हैं। बाल्यावस्था में बच्चे अपने से नहाना, बाल सँवारना एवं यहाँ तक कि जूते के फीते बाँधना जिसमें सूक्ष्म क्रियात्मक कौशलों की आवश्यकता पड़ती है भी सीख जाता है। गेंद

को फेंकना तथा पकड़ना, कैंची का उपयोग, चित्रकला, रंग भरना, पेंसिल या चाक का उपयोग, रेखाचित्र बनाना आदि सभी प्रारम्भिक बाल्यावस्था की अवधि के अंग हैं।

चलने जैसे आधारभूत कौशल के दृढ़ता से स्थापित हो जाने के बाद बालक अतिरिक्त कौशलों की ओर बढ़ता है। एक पैर पर कूदना, रस्सी कूदना, कूदना, दौड़ना, सीढ़ी चढ़ना और उतरना आदि बालक द्वारा किए गए प्रगति को प्रदर्शित करते हैं। साइकिल चलाना, आदि सभी गतिविधियों का इस अवस्था के बालकों द्वारा बहुत आनन्द लिया जाता है। हाथ के कार्य स्थापित हो जाते हैं तथा प्रारम्भिक बाल्यावस्था के अन्त तक बालक में दाएँ या बाएँ हाथ के उपयोग की प्राथमिकता स्पष्ट रूप से दिखायी देने लगती है।

भाषा विकास

संचार की ग्राह्यता तथा अभिव्यक्ति दोनों में सुधार होता है तथा बचपनावस्था के बलबलाने एवं चिल्लाने (रोने) की क्रिया में बहुत कमी आती है। सामान्य भाषा विकास में महत्वपूर्ण तेजी आती है। जब बालक उचित उच्चारण सीखने लगता है, वाक्य रचना (व्याकरण दोषों के साथ) एवं शब्दकोषों का निर्माण भी करता है। इसी समय भाषा विकास की विषय वस्तु में एक मोड़ आता है। बालक केवल अपने, अपनी रुचियों एवं स्वयं की आवश्यकताओं के स्थान पर बालक लगभग 6 वर्ष की आयु में सामाजिक भाषा का उपयोग करने लगता है।

सांवेगिक विकास

प्रारम्भिक बाल्यावस्था में तीव्र संवेग होते हैं जिनमें बहुधा सांवेगिक विस्फोट भी होते रहते हैं। इसमें बहुत जल्दी गुस्सा आना, तीव्र भय या इर्ष्या होते हैं तथा इसका कारण लम्बे समय तक चलने वाले एवं थका देने वाले खेल एवं बहुत कम भोजन करना हो सकते हैं।

क्रीड़ा

प्रारम्भिक बाल्यावस्था के आरम्भ में बच्चे बहुत अधिक खिलौनों से खेलते हैं किन्तु इस अवस्था के पूरे होने तक वे धीरे–धीरे खिलौनों से खेलना बन्द कर देते हैं। खिलौनों या खेल के सामानों की संख्या, नए कौशलों की सीखने के अवसर, पर्याप्त विकसित क्रियात्मक कौशल, सृजनशीलता, उच्च बुद्धिलब्धि आदि सभी कारकों का न्यूनाधिक प्रभाव खेल के पद्धति पर पड़ता है। इस अवस्था में खेल के अन्तर्गत बहुत अधिक अनुकरणशीलता तथा नाटकीयता होती है। उदाहरणार्थ, एक छोटा बालक माँ, शिक्षक या अन्य की तरह व्यवहार करता है। कल्पनाशील खेलों में कभी वास्तविकता तो कभी कल्पनालोक का आनन्द बालकों द्वारा लिया जाता है।

अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध

माता–पिता के साथ सम्बन्ध

इस सम्बन्ध का अनुभव बच्चे अपने माता तथा पिता या उनके स्थानापन्न व्यक्ति के साथ करते हैं। माता–पिता के साथ खराब सम्बन्ध का बच्चे के ऊपर विध्वंशकारी प्रभाव पड़ता है क्योंकि बच्चे माता–पिता पर बहुत अधिक मात्रा में आश्रित होते हैं। इसके अतिरिक्त बालक की सुरक्षा भी माता–पिता के इर्द–गिर्द ही रहती है। इसीलिए माता–पिता के साथ खराब सम्बन्ध या उनकी अनुपस्थिति या मृत्यु बच्चे के लिए दुःखदायी होती है तथा यह व्यक्तित्व के विकास को भी प्रभावित करता हैं।

भाई–बहन के साथ सम्बन्ध

बालक जैसे–जैसे आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ता है तथा वह शिशु नहीं रहता है। भाई बहनों के साथ का झगड़ा तब शुरू होता है जब वह अपने तरीके से कार्य करना चाहता है। इसे भाई–बहनों की प्रतिद्वन्द्विता कहते हैं इसके बाद भी भाई–बहन अच्छे सम्बन्धों का आनन्द उठाते हैं। विशेष रूप से तब जब बड़े बच्चे छोटे बच्चों के लिए सामाजिक रूप से मान्यता प्राप्त एवं लैंगिक रूप से उचित व्यवहारों को अनुकरण द्वारा सीखने में उनके भूमिका–आदर्श का कार्य करते हैं।

व्यक्तित्व विकास

आत्म सम्प्रत्यय की रचना जो व्यक्तित्व का एक प्रमुख अंग होता है, परिवार के अन्दर ही होती है क्योंकि बच्चे का सामाजिक संसार उसके माता–पिता, भाई–बहन तथा अन्य सम्बन्धी जो उसके साथ रह रहे हैं और वे बच्चे के विषय में जैसा सोचते हैं बच्चा उसे ही देखता है तथा अपने 'आत्म' के रूप में स्वीकार करता है। मित्र समूह का भी प्रभाव आत्म सम्प्रत्यय पर होता है जो बच्चे के प्रति उनकी मनोवृत्ति से प्रकट होता है तथा वह बच्चे पर परिवार के प्रभाव को और मजबूत बना सकता है तथा स्थापित कर सकता है या उसका विरोध कर उसे ध्वस्त कर सकता है।

प्रारम्भिक बाल्यावस्था के संकट

पूर्व की अवस्थाओं के विपरीत इस अवस्था में शारीरिक संकटों यथा बीमारी, दुर्घटना या जटिल परिस्थितियों का शरीर के साथ–साथ मानसिक प्रतिघात भी होता है। मृत्युदर में पूर्व की अवस्थाओं की तुलना में सीधी कमी आ जाती है। छोटे बच्चे संक्रमण और बीमारियों से बहुत अधिक प्रभावित होते है। स्वास्थ्य देखभाल सुविधाओं में सुधार करके बीमारियों की

रोकथाम की जा सकती है। प्रतिदिन होने वाली दुर्घटनाएँ जैसे कटना, रगड़ना, गिरना या जलना आदि आमतौर पर होता रहता हैं तथा सामान्यतः यह लड़कों में लड़कियों की तुलना में अधिक पायी जाती हैं। गम्भीर या लम्बी बीमारी बच्चे को प्राप्त होने वाले अवसरों से उन्हें वंचित करते हैं या अवसरों को प्रभावित कर वह बच्चे को मनोवैज्ञानिक रूप से प्रभावित करते हैं।

एक पूर्व विद्यालयी बालक जो अक्सर नकारात्मक या दुःखदायी संवेगों जैसे– क्रोध, आदि का अनुभव करता रहता है उसमें नकारात्मक प्रवृत्ति का विकास होने का सांवेगिक संकट रहता है। बाल्यावस्था के प्रारम्भ में ही बालक को अपने पर्यावरण में स्वयं तथा अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियों के बीच सांवेगिक जुड़ाव स्थापित करने सीखना आवश्यक होता है, जिसे 'परानुभूतिक ग्रन्थि' कहा जाता है। परानुभूतिक ग्रन्थि की स्थापना में असफल होना भी एक अन्य सांवेगिक संकट होता है। बालक को माता के साथ एक स्थायी एवं स्नेहपूर्ण सम्बन्ध की आवश्यकता होती है, जो अन्य सम्बन्धों में विस्तारित होती है।

अनेक ऐसी परिस्थितियाँ होती है जो बालक के सामाजिक समायोजन की मात्रा को प्रभावित करती हैं। ये निम्नलिखित स्थितियों से उत्पन्न होती हैं–

क) यदि बालक का व्यवहार या भाषा लोकप्रिय नहीं होती है तो वह अकेला हो जाता है तथा उसके मित्र–समूह परिस्थितियों में सीखने का अवसर कम हो जाता है।

ख) बच्चे पर अपने लिंग के अनुरूप खेलों में भाग लेने का शक्तिशाली दबाव उसे परेशान कर देता है तथा वह तिरस्कृत हो सकता है।

ग) वे छोटे बच्चे जो अपनी आयु, लिंग या जाति के कारण दुःखदायी सामाजिक परिस्थितियों का सामना करते हैं वे स्वयं के बचाव में सभी सामाजिक सम्बन्धों से दूर हो जाते हैं।

घ) वे बच्चे जो अधिकांशतः पालतू या काल्पनिक साथियों के साथ खेलते है वे प्रभावशाली प्रवृत्ति के होते हैं। इसका परिणाम सामाजिक कुसमायोजन होता है।

ड.) ऐसे बच्चे जिनके सदैव बहुत से खेल के साथी रहे हैं, वे अकेले किस प्रकार परिस्थितियों को सम्भाला जाता है नहीं सीख पाते है और इस प्रकार वे बिल्कुल अकेले हो जाते हैं।

नैतिकता का विकास

प्रारम्भिक बाल्यावस्था की अवधि में बच्चे स्वीकृत एवं अस्वीकृत व्यवहारों को सीखते हैं। अतः उन्हें उचित नैतिक विकास के लिए भी प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए जो निम्नलिखित पर आधारित होता है–

1) माता–पिता द्वारा बच्चे को निरन्तर एवं स्थिर रूप से उचित एवं अनुचित की शिक्षा दी जानी चाहिए अन्यथा वह भ्रमित हो जाएगा।

2) बच्चे की किसी भी भूल को अनुमोदित करना, स्वीकृत करना या कृपापूर्वक देखना नहीं चाहिए। यह गलत व्यवहार छोड़ने के लिए प्रबलन का कार्य करता है।

3) अत्यधिक दण्ड बच्चे को विनाश की ओर ले जाते हैं। अच्छे व्यवहार के लिए प्रशंसा, पुरस्कार एवं पारितोषित और कभी–कभी एवं स्थिर दण्ड बच्चे में नैतिकता विकसित करती है।

4) बच्चे के पालन–पोषण की व्यवस्था सत्तात्मक के स्थान पर बच्चे के प्रेम एवं स्वीकृति पर आधारित होनी चाहिए।

माता–पिता को बच्चों को निरन्तर गलत से सही की ओर ले जाने वाली शिक्षा देनी चाहिए। यदि माता–पिता बच्चों को किसी बात को पहले तो गलत बताते हैं और अगले दिन उसी बात को सही मानकर उस बात की अनदेखी कर देते हैं तो बच्चे भ्रमित हो जाते हैं। दो वयस्कों द्वारा किया गया इस प्रकार का अन्तर भी बच्चे को भ्रमित करते हैं। यदि बच्चे की गलतियों, जिसके लिए माता–पिता उसे दण्डित करते हैं को अन्य व्यक्तियों विशेष रूप से उसके मित्रों द्वारा स्वीकृति दी जाती है तथा सराहना की जाती है तो गलत व्यवहारों के प्रति बालकों में सकरात्मक अभिवृत्ति बन जाती है। इसीलिए केवल गलत व्यवहार ही नहीं अपितु इनके प्रति अभिवृत्तियों के जाँच की भी आवश्यकता होती है।

प्रसन्नता

एक बालक जो प्रसन्न रहता है वह एक पर्याप्त समायोजित व्यक्ति के रूप में विकसित होता है। बच्चे की प्रसन्नता के लिए माता–पिता को बच्चे को स्वीकृति प्रदान करने का उत्तरदायित्व ग्रहण करना चाहिए। उन्हें बच्चे द्वारा प्रत्यक्षीकृत स्वीकृति को सुनिश्चित करने की आवश्यकता होती है, जो निम्नलिखित तरीकों द्वारा किया जा सकता है-

1) माता–पिता द्वारा बच्चे को उसके रंगरूप, लिंग, उसके शक्तियों या कमियों के बिना ही स्वीकार करना चाहिए। उन्हें अपने बीच बच्चे का सहर्ष स्वागत करना चाहिए तथा उन्हें बच्चे को इस बात का एहसास करानी चाहिए कि वे उसे चाहते हैं।

2) माता–पिता द्वारा बच्चे की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति की जानी चाहिए। उचित भोजन एवं पोषाहार बच्चे को उनकी स्वीकृति एवं आवश्यकता अनुभव करने में सहायता प्रदान करते हैं। बच्चों को स्वच्छ रखने तथा बिजली के झटकों, आग, दुर्घटनाओं आदि खतरों से उनकी रक्षा हेतु सुरक्षित पर्यावरण प्रदान करने से बालक के मस्तिष्क में स्वीकृति का संचार होता है।

3) माता–पिता को खाली समय निकालकर कुछ समय बच्चे के साथ बिताना चाहिए। बच्चों की गतिविधियों में सम्मिलित होना तथा उन्हें उपलब्ध वृद्धि एवं विकास के अवसरों में वृद्धि करना बच्चे को स्वीकृति देने के तरीके है।

4) माता–पिता को बच्चे से आँख मिलाकर बात करनी चाहिए। माता–पिता से बात करते समय बच्चे न केवल भाषा सीखते हैं बल्कि वे मानसिक रूप से सुरक्षित एवं स्वीकृति का अनुभव करते हैं।

5) बच्चे को दिया गया प्रोत्साहन विशेष रूप से जब वह क्रियात्मक एवं भाषा सम्बन्धी निपुणताएँ तेज़ी से सीख रहा होता है, उसे प्रसन्न रखता है तथा उसे स्वीकृति प्रदान करता है।

6) आयु के अनुसार तथा बच्चे की रुचियों के अनुरूप उत्तरदायित्वों को बच्चों को सौंपा जाना चाहिए। पौधों को सींचने या घर की सफाई करने में बच्चे की सहायता लेने से बच्चे को स्वीकृति का अनुभव होता है तथा वह परिवार के समूह के अंग होने का अनुभव करता है।

7) आलिंगन या चुम्बन, गोद में लेना, आदि स्नेह के प्रदर्शन द्वारा बच्चे में स्वीकृति के साथ–साथ जुड़ाव का अनुभव करने में सहायता देते हैं।

8) माता–पिता को बच्चे को गलत से सही, अस्वीकृत से स्वीकृत व्यवहार की शिक्षा देने में समय लेना चाहिए। इस पूरे प्रक्रिया को बच्चे को अनुशासित करना कहा जाता है। अनुशासन के परिप्रेक्ष्य में ही माता–पिता को बच्चे के समक्ष सही व्यवहार की व्याख्या एवं प्रदर्शन करना चाहिए। इसके साथ ही माता–पिता स्वयं दोनों के बीच तथा दो समय के व्यवहार के बीच स्थिरता होनी चाहिए। जल्दी–जल्दी दिया जाने वाला दण्ड प्रभावी भी नहीं होता है तथा वह बच्चे को सुग्राह्य भी नहीं होता है। यह अन्तिम आश्रय होना चाहिए। दण्ड की मात्रा सदैव मूल के आनुपातिक होना चाहिए। बच्चे को यह ज्ञात होना चाहिए कि उसे क्यों दण्डित किया जा रहा है।

उत्तर बाल्यावस्था

उत्तर बाल्यावस्था की अवधि 6 वर्ष से लेकर लैंगिक परिपक्वता प्राप्त करने तक अर्थात् लगभग 12–13 वर्ष तक होती है। इस अवस्था में बच्चों में चिन्हित नकारात्मकता का विकास होता है एवं स्वतंत्रता की इच्छा के कारण वे माता–पिता की आज्ञा का पालन कभी–कभी ही करते हैं। इस अवस्था में बालक विद्यालय जाने लगते हैं तथा सफल

वयस्क जीवन हेतु अनिवार्य प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करता है। मित्र समूह का बहुत अधिक प्रभाव होता है और इस आयु में बच्चे मिलकर भीड़ बनाते है या दल बनाते हैं। इसी कारण इस अवस्था को 'दल अवस्था' कहा जाता है।

विकासात्मक कार्य

इस अवस्था में बालक को मित्र मण्डली द्वारा दी गई स्वीकृति एक महत्वपूर्ण आयाम होता है। मित्रों के सम्बन्ध द्वारा बालक विभिन्न सामाजिक कौशलों को विकासात्मक कार्य के रूप में सीखता है तथा इसमें सफल होने पर प्रसन्नता तथा असफल रहने पर कुण्ठा मिलती है।

एक बालक में इस अवस्था के पूर्ण होने पर निम्नलिखित गुण विकसित हो जाते हैं–

- अपने समवयस्क साथियों के साथ रहना सीखना।
- पढ़ने, लिखने एवं अंकगणित के आधारभूत कौशलों का विकास।
- प्रतिदिन के जीवन के लिए आवश्यक अवधारणाओं का विकास।
- चेतना का विकास, अर्थात् नैतिकता एवं मूल्यों की संवेदना।
- सामाजिक समूह एवं संस्थाओं के प्रति अभिवृत्ति का विकास।
- साधारण खेलों हेतु आवश्यक शारीरिक कौशलों को सीखना।
- एक पुरुष या स्त्री की उचित भूमिकाओं के विकास का प्रारम्भ।

शारीरिक विकास

इस अवस्था में अपेक्षाकृत समान किन्तु धीमा शारीरिक विकास होता है। भार में वृद्धि लगभग पूरे उत्तर बाल्यावस्था में एक समान होती है तथा बालक की ऊँचाई में भी प्रतिवर्ष 2–3 इंचों की वृद्धि हो जाती है। शारीरिक अनुपातों में विस्तार होता है जिसमें लम्बे हाथ एवं पैरों के कारण बालक की आकृति भद्दी हो जाती है। 6वें वर्ष से दूध के दाँत गिरने शुरू होते है तथा इनका स्थान स्थायी दाँत ले-लेते हैं किन्तु अक्ल दाँत अभी नहीं निकलता है।

उत्तर बाल्यावस्था के कौशल

बालकों में इस अवस्था में अनेक कौशलों का विकास होता है। ये कौशल बालक और बालिकाओं में भिन्न–भिन्न भी होते है–

- भोजन करने, कपड़े पहनने, स्नान के स्वयं सहायता कौशलों में बालक लगभग प्रौढ़ों के तरह दक्ष हो जाते हैं। केवल थोड़ा सा ध्यान केन्द्रित करने की आवश्यकता होती है।

- सामाजिक कौशल जिसमें दूसरों की सहायता करना सम्मिलित है यथा घर पर सफाई आदि गतिविधियों में सहायता करना, विद्यालय में शिक्षकों की सहायता करना, खेल के समय अपने समवयस्क मित्रों के उत्तरदायित्वों में सहायता आदि, इस आयु के बच्चे की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ होती हैं।

- लिखना, पढ़ना, चित्र बनाना, रंगभरना, क्ले माडलिंग, पेंसिल से चित्रकारी करना जैसे विद्यालयी कौशलों में और अधिक प्रवीण होना।

- खेल संबंधी कौशलों जैसे गेंद फेकना एवं पकड़ना, साइकिल चलाना, स्केटिंग करना एवं तैरने का विकास होता है। लड़कियों में पेन्टिंग एवं सुई के कार्यों के बारीक क्रियात्मक कौशलों का अच्छा खासा विकास होता है जबकि लड़कों में सामान्य रूप से गेंद फेकना, फुटबाल को पैर से मारने या कूदने जैसे क्रियात्मक कौशलों का विकास होता है।

भाषा सुधार

बड़े बच्चे मित्र मण्डली के सदस्यों में स्वीकार किए जाने के एक यंत्र के रूप में भाषा के विकास के प्रति अधिक जागरूक होते हैं। इसीलिए भाषा में अपरिपक्वता, संचार के अस्वीकृत तरीकों जैसे–रोना एवं शारीरिक हाव–भाव को त्यागकर उसे सुधारने का चेतन प्रयास होता रहता हैं। व्याकरण एवं सही उच्चारण को बच्चे सीखते हैं। बच्चे चुटकुले सुनाने या घटनाओं को सुनाने या पहेलियाँ बुझाने में रुचि लेते हैं। माता–पिता एवं शिक्षक भी बच्चों को प्रोत्साहित करके भाषा के सुधार में सहायता देते हैं। रेडियों एवं टेलीविजन भाषा के लिए आदर्श का कार्य करते हैं। बच्चों के शब्दकोष जैसे रोगों के नाम, गिनती, धन के सम्प्रत्यय, समय का ज्ञान आदि में सुधार परिलक्षित होता हैं। अक्सर समूहों द्वारा उपयोग किए गए गुप्त कोड बड़े बच्चों के संचार प्रक्रिया का अंग बन जाता है।

उत्तर बाल्यावस्था में संवेग

बड़े बच्चे अपने उन सांवेगिक विस्फोटों को नियन्त्रित करना सीखते हैं, जो मित्र मण्डली द्वारा घृणा की दृष्टि से एक अपरिपक्व एवं अनुचित व्यवहार के रूप में देखा जाता है। दूसरी ओर प्रसन्न एवं सुखदायी अभिव्यक्तियों को स्वतंत्र रूप से हँसने, मुस्कराने या कूदने के रूप में व्यक्त किया जाता है। वे बच्चे जिनमें अपने नकारात्मक अभिव्यक्तियों को व्यक्त करने की प्रवृत्ति नहीं होती है वे मूडी हो सकते हैं या उदासीन हो जाते हैं। संवेगों की

अभिव्यक्ति में लिंग के समुचित प्रभाव को देखा जा सकता है। लड़के क्रोधी या जिज्ञासु प्रवृत्ति का प्रदर्शन करते हैं जबकि लड़कियाँ भय, क्लेश एवं स्नेह की भावना से ओत–प्रोत रहती हैं।

सामाजिक विकास

बड़े बच्चे मित्र मण्डली में एक सदस्य के रूप में स्वीकार किए जाने की तीव्र इच्छा का प्रदर्शन करते हैं। घर पर रहना या भाई–बहनों के साथ खेलना उनके द्वारा नापसन्द किया जाता है। उनके समूह बाल अपराधी समूह न होकर क्रीडा समूह होते हैं। उनकी मुख्य गतिविधि खेलना या सामान्य बातचीत होती है। समूहों में एक विशेषता यह होती है कि अक्सर समूहों के सदस्य एक ही लिंग के होते हैं। वे बच्चे जो समूह के सदस्यों द्वारा स्वीकृति प्राप्त होते हैं वे बेहतर सामाजिक प्रस्थिति अर्जित करते हैं तथा उनमें आत्म विश्वास की भावना होती है जबकि जिन्हें समूह द्वारा अस्वीकृत किया जाता है उनमें इसके विपरीत भाव दृष्टिगोचर होते हैं।

खेल गतिविधियाँ

बड़े बच्चों के लिए केवल खेल ही मनोरंजन का साधन नहीं होता है लेकिन यह समाजीकरण का मुख्य उपकरण होता है, जो विभिन्न सामाजिक कौशलों को सीखने का अवसर प्रदान करता है। विभिन्न खेलों या गतिविधियों जैसे सामान (सीप, टिकट एवं चित्र) इक्टठा करने का आनन्द लिया जाता है। जबकि ये गतिविधियाँ खेलों के सामाजिक लक्ष्यों की पूर्ति में उपयोगी, स्वीकृत एवं लोकप्रिय होती हैं।

समझ का विकास

बड़ा बच्चा इस स्थिति में होता है जहाँ उसका सम्प्रत्यय विशिष्ट एवं मूर्त हो जाता है। वे संज्ञानात्मक विकास की अवस्था जिसे 'मूर्त क्रिया' भी कहा जाता है, में होते हैं। सम्प्रत्यय निर्माण, विकास एवं स्पष्टीकरण में विद्यालय एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। बालक में सम्प्रत्यय के सामाजिक आयामों की समझ प्रारम्भ हो जाती हैं तथा समूहों के प्रकार, भिन्नताएँ आदि बालक द्वारा प्रत्यक्षीकृत की जाती हैं।

नैतिक व्यवहार

आचार संहिता एवं नैतिकता जो घर पर सीखी जाती थी अब उसका प्रसार सामाजिक समूहों तक हो जाता है। बालक मित्र समूह का अंग बनने के लिए चेतन प्रयास करता है। विशिष्ट परिस्थितियों की अपेक्षा सामान्य परिस्थितियों के आधार पर ही नैतिक आचारण विकसित होता है। पुरस्कार, दण्ड एवं नियमों का स्थिर उपयोग बालक को नैतिक व्यवहार विकसित करने में सक्षम बनाता है।

व्यक्तित्व विकास

जब बालक विद्यालय जाने लगता है तो उसका सामाजिक क्षितिज पारिवारिक सदस्यों से बाहर और अधिक व्यापक हो जाता है। अब बालक स्वयं को केवल माता–पिता की दृष्टि से ही नहीं बल्कि शिक्षकों सहपाठियों एवं मित्रों की दृष्टि से भी देखता है। अतः बालक के 'आत्म सम्प्रत्यय' जो उसके आस–पास के लोगों के आइने में देखा जाता है, में परिवर्तन होता है। बालक के व्यक्तित्व गुणों में भी परिवर्तन दिखते हैं।

उत्तर बाल्यावस्था के संकट

बालक विभिन्न शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक संकटों के लेकर सशंकित रहता है। इसमें बीमारी एवं दुर्घटना जैसे शारीरिक संकटों का बड़े बच्चों को सामना करना पड़ता है। उन्नत चिकित्सकीय सुविधाएँ बहुत सी बीमारियों की देखभाल कर लेती हैं किन्तु बड़े बच्चों की मृत्यु का एक महत्वपूर्ण कारण दुर्घटनाएँ होती हैं। पर्याप्त स्वीकृति का अभाव भावी जीवन में व्यक्तित्व कुसमायोजन का एक महत्वपूर्ण कारक होता है।

उत्तर बाल्यावस्था में प्रसन्नताएँ

बड़े बच्चे विभिन्न स्रोतों से सुख का अनुभव करते हैं। वे खेल के समय की प्रतीक्षा व्यग्रता से करते हैं। कुछ तात्कालिक कठिनाइयों के क्षणों के अतिरिक्त यदि घर का माहौल तनावमुक्त रहता है तो बालक परिवार से प्रेम करते है तथा सुख के एक अतिरिक्त साधन के रूप में परिवार से भी संतुष्टि प्राप्त करते हैं। उत्तर बाल्यावस्था में सामाजिक स्वीकृति सुख प्राप्ति का एक महत्वपूर्ण कारक होता है।

किशोरावस्था

किशोरावस्था का शाब्दिक अर्थ 'परिपक्वता की ओर बढ़ना' होता है। यह बाल्यावस्था एवं प्रौढ़ावस्था के मध्य की अवस्था होती है जिसमें दोनों अवस्थाओं की विशेषताएँ और गुण परिलक्षित होते है, यद्यपि कि दोनों में से किसी की पूरी विशेषताएँ नहीं देखी जाती हैं। इस अवस्था की अवधि 12–19 वर्ष होती है। यह अवस्था प्रौढ़ावस्था की तैयारी होती है। किशोरावस्था में लैंगिक परिपक्वता सहित अनेक तीव्र शारीरिक परिवर्तन होते हैं। इसी प्रकार मानसिक एवं सामाजिक परिवर्तन भी होते हैं। किशोरावस्था व्यक्ति के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण अवस्था होती है। इसके साथ ही, इस अवस्था में विभिन्न प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। किशोर बहुत संवेदनशील होते हैं इसे समझा जाना चाहिए तथा बहुत अधिक उत्तरदायित्व के साथ उसे संभालना चाहिए। किशोरावस्था के निम्नलिखित विकासात्मक कार्य होते हैं–

- अपने स्वयं के शरीर उसमें होने वाले तथा परिवर्तनों को स्वीकार करना।
- अपने समवयस्क दोनों लिंगों के साथियों के साथ नवीन एवं अधिक परिपक्व सम्बन्धों की स्थापना।
- कैरियर का चयन एवं इस हेतु प्रशिक्षण।
- सामाजिक रूप से उत्तरदायी व्यवहार की इच्छा, स्वीकृति एवं प्राप्ति।
- आर्थिक एवं सांवेगिक आत्मनिर्भरता अर्जित करना।
- स्वयं की पहचान बनाना।

शारीरिक परिवर्तन

किशोरावस्था में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन यौन परिपक्वता होता है जो यौनारम्भ के दौरान होता है। इसके लिए शरीर लगभग दो वर्षों में तैयार होता है (पूर्व यौनारम्भ) इसके बाद अगले दो वर्षों में समायोजन एवं पूर्ण प्रकार्यात्कता आ जाती है (उत्तर योवनारम्भ)। ऊँचाई में परिवर्तन, भार में परिवर्तन विकास के फौव्वारे के समान होता है। यौवनारम्भ अवस्था में लड़कियों में मासिक धर्म का प्रारम्भ तथा लड़कों में वीर्यपतन प्रारम्भ हो जाता है। यौवनारम्भ में आन्तरिक एवं वाह्य दोनों प्रकार के परिवर्तन होते हैं। आन्तरिक रूप से इन्डोक्राइन व्यवस्था हारमोन का निर्माण करने लगती है जिससे किशोरों में प्रजनन क्षमता भी आ जाती है। इसमें किशोरियों में इस्ट्रोजेन तथा प्रोस्टोजेन एवं किशारों में एन्ड्रोजेन और टेस्टोस्ट्रीआन प्रमुख होते हैं। वाह्य शारीरिक परिवर्तनों में द्वितीयक यौन विशेषताएँ जैसे किशोरों के मुखमण्डल पर बालों का उगना (दाढ़ी और मूँछ का विकास) तथा किशोरियों के वक्षस्थल का विकास होता है। इसी प्रकार शरीर वयस्कों जैसा आकार प्राप्त कर लेता है तथा वाणी में परिवर्तन हो जाते हैं।

सांवेगिकता और सामाजिक व्यवहार

स्टेनले हॉल ने किशोरावस्था को 'तूफान एवं तनाव' की अवस्था कहा था। हारमोन का विकास, विकास की तीव्रता तथा प्रजनन परिपक्वता इन सभी का केवल शारीरिक ही नहीं बल्कि सांवेगिक प्रभाव भी होता है।

किशोरों की सांवेगिकता को 'तीव्र सांवेगिकता' कहते हैं। जिसमें व्यक्ति चिड़चिड़ा, मूडी, आतार्किक या भावुक होता है। यद्यपि कि किशोरावस्था में परिपक्वता स्थापित हो जाती है क्योंकि यह अवस्था प्रौढ़ावस्था का मार्ग प्रशस्त करती है तथा व्यक्ति पर्याप्त रूप से समायोजन की कला सीखता है।

इस अवस्था में मित्र समूह का प्रभाव बढ़ जाता है। किशोर एवं किशोरियाँ विषमलिंगियों पर ध्यान देने लगते हैं तथा उनमें रुचि लेना प्रारम्भ कर देते हैं। मित्र बनाना, विद्यालय के नवीन सामाजिक परिस्थितियों में समायोजन करना तथा कैरियर की खोज जैसे कार्य इस अवस्था में किए जाते हैं। व्यक्तिगत साज–सज्जा, संवरने तथा वस्त्रों आदि में किशोर अभूतपूर्व रुचि का प्रदर्शन करते हैं। वे विभिन्न दार्शनिक मुद्दों पर चिन्तन करते हैं तथा जीवन का उद्देश्य क्या है?, मैं कौन हूँ? जैसे प्रश्नों का उत्तर खोजने का प्रयास करते हैं। यदि स्वयं के पश्चात् की खोज में किशोर को अर्थपूर्ण उत्तर मिल जाता है किन्तु यदि उसके समक्ष पहचान का संकट उत्पन्न हो जाता है तो भावी जीवन में वह भ्रमित रहता है तथा उसमें आत्म अविश्वास पैदा हो जाता है।

नैतिक विकास

किशोरावस्था में नैतिकता का विकास हो जाना चाहिए। नैतिकता की जड़ आंतरिक नियंत्रण में होनी चाहिए न कि वाह्य अभिकरणों जैसे– भय, दण्ड एवं सामाजिक दुष्प्रभावों में, क्योंकि ये कारक किशोर को अपने विषय में निर्णय लेने सीखने से रोकते हैं।

किशोरावस्था में संकट

इस अवस्था में बीमारी की दर निम्न होती है तो दुर्घटनाओं एवं ऐसे द्वन्द्वों जो आत्महत्या तक के लिए बाध्य करते हैं की दर उच्च होती है। अक्षमताओं के कारण परिपक्वता की ओर संक्रमण न हो पाना भी एक मानसिक संकट होता है। सामाजिक मान्यता प्राप्त न होना, विशेष रूप से विषमलिंगियों से संकट का एक प्रमुख स्रोत होता है।

प्रसन्नता

किशोरों की प्रसन्नता उनके सामाजिक तथा पारिवारिक समायोजन पर आधारित होती है। कैरियर का चयन एवं प्रशिक्षण मन को प्रसन्न रखने में योगदान देता है। यदि कैरियर आकांक्षायें वास्तविक एवं अर्जित करने योग्य होती है तब यह स्थिति किशोरों को अच्छी तरह समायोजित एवं प्रसन्न रखने में सहायक होती है।

प्रौढ़ावस्था

प्रौढ़ावस्था में वृद्धि पूर्ण हो जाती है तथा व्यक्ति विभिन्न उत्तरदायित्वों को ग्रहण कर लेता है। लगभग 18 वर्ष से प्रारम्भ होकर यह अवस्था मध्यावस्था तक अर्थात 45 वर्ष तक चलती है। जीवन के इस अवस्था के विकासात्मक कार्य निम्नलिखित हैं–

पूर्व के सभी अवस्थाओं की भांति प्रौढ़ावस्था के भी विभिन्न विकासात्मक कार्य होते हैं। ये ही कार्य इस अवस्था की महत्वपूर्ण भूमिकाएँ हो जाती हैं। हम सभी को समाज द्वारा मान्यता एवं नियमित रूप से एक 'प्रस्थिति' एवं स्थिति प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ एक पुत्र या एक अधिकारी या एक कप्तान की प्रस्थिति। अपनी प्रस्थिति के अनुरूप ही व्यक्ति को विभिन्न प्रकार के कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों का निर्वहन करने की आवश्यकता होती है जिसे 'भूमिका' कहते हैं। भूमिका प्रस्थिति का एक गत्यात्मक छोर होता है। उदाहरण के लिए पुत्र को माता–पिता की देखरेख करनी चाहिए जबकि कप्तान टीम का नेतृत्व करता है। प्रौढ़ों की भूमिकाएँ इतनी महत्वपूर्ण होती है कि उन्हें 'परमावश्यक भूमिकाएँ कहा जाता है तथा प्रत्येक प्रौढ़ इन भूमिकाओं का निर्वाह करता है। इन भूमिकाओं में एक कार्यकर्ता की भूमिका, एक पति/पत्नी की भूमिका तथा एक माता–पिता की भूमिका भी सम्मिलित होती है।

कार्यकर्ता की भूमिका

किशोरावस्था में कैरियर चयनित करने एवं प्रशिक्षण लेने के पश्चात् वयस्क व्यक्ति का महत्वपूर्ण कार्य व्यवसाय प्राप्त कर उसमें स्थापित होना होता है। स्थापित होने के पश्चात् व्यक्ति को संतुष्टि अथवा असंतुष्टि का अनुभव होता है। कार्य संतुष्टि अथवा असंतुष्टि का अनुभव हो जाता है। कार्य संतुष्टि (जिसे व्यावसायिक समायोजन भी कहते हैं) के अनुपात में ही व्यक्ति जीवन में समायोजन प्राप्त करता है। व्यावसायिक समायोजन निम्नलिखित कारकों पर निर्भर करता है :

- व्यवसाय के चयन का कारण।
- कार्य करने की तैयारी।
- प्रशिक्षण और योग्यताएँ।
- अनुभव एवं विशेषता, कार्य निष्पादन में निपुणता।
- व्यक्तिगत रुचि।
- अभिवृत्ति के समायोजन तथा सीखने की इच्छा।
- धन।

यदि ये कारक अधिक या कम संतुलित होते हैं तो प्रौढ़ व्यावसायिक रूप से समायोजित होता है। केवल व्यक्ति के लिए ही नहीं बल्कि परिवार के लिए भी समायोजन आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए व्यक्ति अगर एक 'ट्रैवलिंग एक्सीक्यूटिव' है और लम्बी यात्राओं पर घर से बाहर रहता है उसके परिवार की विशेष परिस्थितियों से समायोजन करने की क्षमता होनी चाहिए। यह पाया गया है कि जो वित्तीय माँगों के साथ संतुलन रखता है वह वयस्क के रूप में अच्छा समायोजित रहता है।

जीवन साथी

पति/पत्नी के उत्तरदायित्वों को ग्रहण करना तथा बेहतर ढंग से उसका निर्वहन करना व्यक्ति के जीवन में प्रसन्नता एवं समायोजन स्थापित करने में महत्वपूर्ण योगदान देता है। वैवाहिक समायोजन मुख्यता निम्नलिखित कारकों पर निर्भर करता है।

- विवाह की आयु।
- विवाह का प्रकार– प्रेम विवाह या आयोजित विवाह।
- जीवन साथी के विषय में पूर्व ज्ञान या जानकारी।
- पृष्ठभूमि के समानताएँ/विभिन्नताएँ।
- रुचियों में समानता।
- वैवाहिक कार्य करने की इच्छा एवं सकारात्मक अभिवृत्ति।

एक प्रमुख कहावत है कि विवाह स्वर्ग से ही तय होते हैं लेकिन विवाहित युगल को इसे धरती पर स्वस्थ बनाने के लिए कार्य करना चाहिए। विवाह में सफलता विभिन्न पक्षों या क्षेत्रों में अर्जित की जानी चाहिए। मूल रूप से पति एवं पत्नी दोनों को विवाह से संतुष्ट होने की आवश्यकता होती है। वैवाहिक इमानदारी एवं विश्वास विवाह की आधारशिला स्थापित करते हैं। दोनों जीवन साथियों के बीच संचार महत्वपूर्ण कारक होता है। एक दूसरे के प्रति आदरसूचक प्रेम, पति एवं पत्नी के बीच मेल–मिलाप निर्णायक होता है। इसके अतिरिक्त युगल को एक दूसरे की रुचियों, कार्य माँगों एवं व्यक्तित्व को ग्रहण करने का प्रयास करना चाहिए। यौन संतुष्टि एक अन्य क्षेत्र है। धन का रख–रखाव, खर्च एवं बचत, यदि परिपक्व ढेग से नहीं किया जाता है तो यह विवाह को नष्ट कर सकता है। इन क्षेत्रों में समायोजन सही अर्थों में विवाह को एक सुख का साधन बना सकता है।

माता–पिता की भूमिका

जैसे–जैसे परिवार बढ़ता है तथा उसमें बच्चे भी जुड़ जाते हैं, व्यक्ति को इस वास्तविकता का एहसास करना चाहिए कि यह एक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। माता–पिता की भूमिका के साथ समायोजन विभिन्न कारकों जैसे बच्चों की आवश्यकता, बच्चों की संख्या, बच्चों के जन्म का समय, बच्चों का लिंग, बच्चों के बीच अन्तर, उन्हें सहयोग देने की क्षमता, माता–पिता द्वारा उपयोग में लायी जा रही बच्चों के पालन–पोषण की विधि, बच्चों की स्वीकृति आदि पर निर्भर करती है।

बच्चों को यदि स्नेहपूर्वक देखभाल के साथ सम्पूर्ण स्वीकृति प्रदान की जाय तो बच्चें माता–पिता के सांवेगिक हित में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं। माता–पिता को अपनी

भूमिका प्रतिबद्धता एवं सृजनात्मकता के साथ निभानी चाहिए। यदि बच्चे विद्रोही प्रवृत्ति के हों, बीमार हो या देखभाल न करने वाले हों तो माता–पिता की भूमिका बच्चों पर नियंत्रणकारी नहीं रह पाती है। वे दम्पत्ति जो स्वेच्छा से सन्तानविहीन रहते हैं, यद्यपि कि अत्यधिक स्वतंत्रता का आनन्द उठाते हैं लेकिन वे बच्चों के स्नेह एवं साथ के खुशियों से वंचित रह जाते हैं।

मध्यावस्था

मध्यावस्था प्रौढ़ावस्था एवं वृद्धावस्था के बीच की अवस्था होती है। यह लगभग 45 वर्ष से प्रारम्भ होकर वृद्धवस्था के प्रारम्भ के समय समाप्त होती है। यह प्रौढ़ावस्था से वृद्धावस्था के संक्रमण की अवधि होती है। इस अवस्था की विशेषता व्यावसायिक एवं अन्य क्षेत्रों की उपलब्धियाँ होती हैं। यह वह समय होता है जब जीवन का मूल्यांकन व्यक्ति अन्तर्दर्शन द्वारा करता है। इस अवस्था को खाली घोसले की अवधि कहा जाता है क्योंकि इस अवस्था में बच्चे घर छोड़कर बाहर चले जाते हैं। बहुत से अवलोकनकर्ता इसे तनाव की अवस्था कहते हैं अक्सर इसे मध्यावस्था संकट भी कहा जाता है।

मध्यावस्था वयस्क का विकासात्मक लक्ष्य कैरियर में सफलता, विवाह में अच्छा समायोजन एवं बच्चों में संतुष्टि के इर्द–गिर्द होता है। कार्य में व्यक्ति महत्वपूर्ण उपलब्धियों प्राप्त करता है तथा चरम का अनुभव करता है। विवाह शक्तिशाली होगा या कमजोर यह उसके आधार पर निर्भर करता है। माता–पिता के साथ उनके बच्चों के सम्बन्ध को एक नया आयाम प्राप्त होता है क्योंकि उनके बच्चे भी वयस्क जीवन प्रारम्भ कर रहे होते हैं।

शारीरिक परिवर्तन

अपने सक्रिय प्रजनन अवस्था के बाद पुरुष एवं महिला शारीरिक ह्रास का अनुभव करने लगते हैं। महिलाओं में रजोनिवृत्ति होती है, मासिक धर्म की समाप्ति हो जाने के कारण अब वह और बच्चों को जन्म देने में असमर्थ हो जाती हैं। महिलाओं में रजोनिवृत्ति के परिणामस्वरूप हारमोन में ह्रास से महिलाओं में कुछ अन्य लक्षण आ जाते हैं। उदर के आस–पास भार में वृद्धि, जोड़ों का दर्द, रंग–रूप में परिवर्तन जैसे भूरेबाल, माँस पेशियों में झुकाव, दाँत एवं दृष्टि में समस्याएँ उनके जीवन की गति को धीमा कर देते हैं। पुरुष भी अब यौनिक आवश्यकताओं एवं प्रेरणा में कमी का अनुभव करते हैं और इससे वे स्वयं अपने पुरुषत्व पर प्रश्न चिह्न लगाने लगते हैं। चूँकि युवावस्था की समाप्ति हो जाती है इसलिए पति–पत्नी के बीच सम्बन्ध पर पुनः दृष्टिपात करना अनिवार्य हो जाता है।

सांवेगिक परिवर्तन

हारमोनो में कमी से उत्पन्न कठोर शारीरिक परिवर्तनों के कारण अनेक सांवेगिक उतार एवं चढ़ाव होते हैं। मूडीपन एवं अकेलापन मध्यावस्था वयस्क को प्रभावित करते हैं। कम होते कार्य, घटता आकर्षण एवं नकारात्मक भावनाएँ तनाव जिनकी देखभाल नहीं हो पाते, ये संकटकालीन परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं। अर्थपूर्ण कार्य, रुचियों एवं सम्बन्धों में सांवेगिक स्थिरता अर्जित की जा सकती है। धीरे–धीरे लोग धर्म एवं शांति, शक्ति एवं अर्थ के लिए भगवान की ओर मुड़ जाते हैं।

सामाजिक परिवर्तन

मध्यावस्था में सामाजिक गतिविधियाँ एवं उत्तरदायित्वों का महत्व बढ़ जाता है। बच्चे और उनका परिवार उनके संतुष्टि का साधन होते हैं। मित्र एवं बचपन के मित्र समूह के सदस्य व्यक्ति की बहुत महत्वपूर्ण सहायता करते हैं क्योंकि इससे व्यक्ति अकेलेपन का अनुभव नहीं करता है।

इस अवस्था में जीवन यात्रा को उसके सभी मोड़ एवं चक्करों के साथ स्वीकार करने से प्रसन्नता आती है। कैरियर लक्ष्यों की स्थापना एवं प्राप्ति, पारिवारिक घनिष्ठता का नवीनीकरण एवं सामाजिक योगदानों का विकास एवं अनुभव व्यक्ति के मूल्यों में वृद्धि प्रदान करता है।

वृद्धावस्था

यह सत्य है कि एक 45 वर्ष का व्यक्ति एक अत्यधिक वृद्ध व्यक्ति की तरह अनुभव कर सकता है, जबकि 85 वर्ष का दूसरा व्यक्ति एक सक्रिय एवं अच्छे स्वास्थ्य का आनन्द ले सकता है। फिर भी वृद्धावस्था अमर जिसे जीवन की संध्या भी कहा जाता है लगभग 65 वर्ष की आयु से प्रारम्भ होती है। वृद्ध व्यक्तियों को वरिष्ठ नागरिक भी कहा जाता है। वृद्धावस्था शारीरिक शक्ति एवं सामाजिक सहभागिता में अवनति की अवधि होती है। इस अवस्था का जीवन के अन्य अवस्थाओं की भांति स्वागत नहीं किया जाता है। वृद्ध व्यक्तियों का समायोजन अक्सर खराब होता है। वृद्धावस्था की समस्याओं में अक्षमता, बीमारी, पराश्रितता एवं मृत्यु होती है।

शारीरिक परिवर्तन

जैसे–जैसे शक्ति का क्षय होने लगता है शरीर के विभिन्न अंगों एवं अंग व्यवस्था में धीमापन आ जाता है। मधुमेय, हृदय रोग, अस्थि रोग एवं इस प्रकार के अन्य रोग इस

अवस्था में आमतौर पर होते हैं। चलने, देखने, सुनने आदि में अक्षमता व्यक्ति को विभिन्न तरीकों से सीमित कर देते हैं। ये अक्षमताएँ व्यक्ति को दूसरों पर आश्रित बना देती है।

मानसिक परिवर्तन

एक वृद्ध अक्सर अकेलेपन का अनुभव करता है। बीमारियाँ और असमर्थताएँ व्यक्ति के अन्दर एक अपर्याप्तता एवं पराश्रितता उत्पन्न कर देते हैं जो वृद्ध व्यक्ति को खराब सोचने पर मजबूर कर देता है। ये स्थितियाँ व्यक्ति को अविश्वासी तथा क्रोधी बना देती हैं। पति/पत्नी की मृत्यु को व्यक्ति हानि मानता है। यादांश्त कम हो जाने से वृद्ध व्यक्तियों के समक्ष और अधिक कठिनाईयाँ आ जाती हैं। मृत्यु का भय इस अवस्था का सबसे प्रभावी संवेग होता है। दुर्बलता एवं दूसरों पर बोझ की चिन्ता वृद्धों में आम होती है।

सामाजिक परिवर्तन

बहुधा वृद्ध व्यक्ति अपने कार्य से अवकाश प्राप्त कर लेते हैं। उनके व्यस्त जीवन में अचानक एक ठहराव आ जाता है। पुनः रोज़गार के अवसर बहुत उज्ज्वल नहीं होते हैं। अतः वृद्ध व्यक्ति के पास बहुत थोड़ा सा कार्य तथा बहुत अधिक समय होता है और उसकी गतिशीलता घट जाती है जो उसे बेहद कुण्ठित करती है। सम्पूर्ण जीवन शैली का पुनः निर्धारण एवं पुनःनिर्माण के साथ अर्थपूर्ण गतिविधियाँ भी आवश्यक हो जाती हैं। विभिन्न कारणों से मित्र समूह के सदस्य भी पहुँच से बाहर होते हैं। एक विधवा या विधुर की सामाजिक प्रस्थिति कभी भी आनन्ददायक नहीं होती है। छोटी–छोटी चीजों, पैसों, एवं आश्रम हेतु दूसरों पर आश्रितता वृद्ध व्यक्तियों के सामाजिक जीवन को कठोरता के साथ संकचित कर देती है। एक व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत उत्तरदायित्वों को स्वयं निभाने की आवश्यकता होती है, उनके लिए यह एक मील का पत्थर होता है। सामाजिक दायरे के अन्य व्यक्तियों के स्थान पर स्वयं का व्यक्तिगत जीवन एवं अस्तित्व की रक्षा ही इस अवस्था का विकासात्मक कार्य हो जाता है।

वृद्धावस्था में प्रसन्नता या खुशी अपने बच्चों और उनके कल्याण के इर्द–गिर्द ही होती है। साधारण घटनाएँ एवं स्मृतियाँ, प्यार एवं लगाव वृद्ध व्यक्ति को संतुष्टि की भावना प्रदान करते हैं।

सारांश

इस अध्याय में मानव विकास की अवस्थाओं का जन्म पूर्व अवस्था, शिशु अवस्था, बाल्यावस्था, प्रारम्भिक एवं उत्तर बाल्यावस्था, किशोरावस्था, प्रौढ़ावस्था, मध्यावस्था तथा वृद्धावस्था का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। प्रत्येक अवस्था की विशेषताओं, मील के पत्थरों, शारीरिक एवं मनोसामाजिक विकास की समीक्षा की गई है। प्रसन्नता के स्रोतों का भी जिक्र किया गया है।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

एलिजाबेथ, बी. हरलॉक (1980), *डेवलपमेंटल साइकोलाजी,* 5वाँ संस्करण, टाटा–मैकग्रा हिल, नई दिल्ली

एलिजाबेथ बी. हरलॉक (1964), *चाइल्ड डेवलपमेंट,* 6वाँ संस्करण, टाटा–मैकग्रा हिल, न्यूयार्क

एल. जोसेफ स्टोन एण्ड जोसेफ चर्च, (1973), *चाइल्डहुड एण्ड एडोलसेन्स* 3रा संस्करण, रैण्डम हाउस, न्यूयार्क

बी. कुप्पुस्वामी (1974), *टेक्सट बुक ऑफ़ चाइल्ड,* बीहेवियर एण्ड डेवलपमेंट, कोनार्क पब्लिकेशन, नई दिल्ली

जार्ज जी थाम्पसन (1981), *चाइल्ड साइकोलॉजी,* सुजीत पब्लिकेशनस, नई दिल्ली

हैवीघर्स्ट, आर. जे. (1953), *ह्युमेन डेवलपमेण्ट एण्ड ऐजुकेशन,* लांगमैनस, न्यूयार्क